International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232; Impact Factor: RJIF 5.22
Received: 17-01-2019; Accepted: 19-02-2019
www.hindijournal.com
Volume 5; Issue 2; March 2019; Page No. 13-15

गोस्वामी तुलसीदास का अभिप्रेत सामाजिक संदर्भ

जितेन्द्र कुमार गिरि
शोध छात्र, हिन्दी विभाग, एम0बी0पी0जी0 कॉलेज, हल्द्वानी, नैनीताल, उत्तराखण्ड, भारत।

सारांश
लोकचेतना के सदर्भ में सार्वकालिक चिंतन दृष्टि से समृद्ध गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के उन महान कवियों में अग्रणी हैं जिन्होंने पहली बार साहित्य और समाज को परस्पर अनुपूरक मानकर साहित्य की सर्जना की, और इसमें भी उन्होंने काव्य और लोकमंगल की संपृक्तता को साहित्य का एकमात्र प्रयोजन माना। उनका सम्पूर्ण काव्य इसी लोक कल्याण के इर्द–गिर्द विचरण करता नज़र आता है। उनकी सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि का आयाम अत्यंत व्यापक था, उनसे जीवन का कोई भी कोना अछूता नहीं था फिर चाहे वह भक्ति, ज्ञान और कर्म का दर्शन रहा हो अथवा सामाजिक संबंधों का आदर्श, उन्होंने सभी का शुद्धीकरण करके उनकी महत्ता को पुर्नस्थापित किया जिससे वे पुनः उपयोगी बन सकें। इसी तरह से निष्क्रिय एवं चेतना शून्य जनमानस की करुणा को संवेदना और स्वाभिमान से ओत–प्रोत कर उनको पुनर्जाग्रत किया। अपने इस साध्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने 'राम' और रामकाव्य को साधन के रूप में प्रयुक्त किया तथा इन दोनों को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से उन सभी उपकरणों को अजमाया, जो लोक में प्रचलित थे। भक्तिकाल तथा भक्ति आन्दोलन के सबसे सशक्त हस्ताक्षर तुलसीदास जी को यद्यपि जीवन की विविध सरणियों का गहन ज्ञान था। परन्तु उनके द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन का चित्रण अत्यधिक मनोयोग से किया गया। फिर भी धर्म, दर्शन, काव्य, कला और पौराणिकता आदि अनेक दृष्टियों से तुलसी काव्य महत्वपूर्ण है ही, साथ ही लोक तत्वों के समावेश एवं लोकजीवन के चित्रण में भी उसका महत्व किसी प्रकार से कम नहीं है। उनका साहित्यिक प्रदेय समस्त भक्तिकाल पर भारी है। आदर्शों और मूल्यों की दृष्टि से भक्तिकाल को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाकर उसे 'स्वर्णयुग' की संज्ञा दिलाने में गोस्वामी जी का अतुलनीय योगदान रहा है।

मूल शब्द : गोस्वामी तुलसीदास, साहित्य और समाज।

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में पूर्व मध्यकाल के पदार्पण तक देश की सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियां अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी। आदिकाल के अन्तर्गत भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी प्रान्तों में सिद्धों एवं नाथों द्वारा 'महासुखवाद' के नाम पर साधारण जनमानस में तंत्र–मंत्र एवं रहस्य आदि आडम्बरों से निर्मित धार्मिक स्वरूप ने भक्तिकाल के आगमन तक और अधिक विकृत होकर अंधविश्वासों के प्रोत्साहन द्वारा समाज को कर्तव्यविमुख बना दिया था। बाह्य आक्रान्ताओं की राजनीतिक स्थिरता के पश्चात सामाजिक उदासीनता, धार्मिक कट्टरता, धार्मिक स्थलों का विध्वंस, हिन्दुओं के आराध्य देवी–देवताओं का अपमान और बढ़ती इस्लामीकरण की प्रवृत्ति ने सम्पूर्ण उत्तर भारतीय लोकमानस के अंतरतम को झकझोर कर रख दिया, जो कि अभी तक अपने स्वत्व व स्वाभिमान की पराजय से शोक–संतृप्त था। ऐसी अवस्था में उसे न तो अपनी गौरवशाली परम्परा का स्मरण रहा और न ही सिद्धों एवं नाथों के चमत्कारिक कृत्यों से कोई लगाव, हताशा और निराशा में डूबा वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। संकल्प–विकल्प विहीन ऐसी परिस्थिति में उसके समक्ष शुद्ध भक्ति का मार्ग अपनाकर ईश्वर के प्रति समर्पित होने के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं था। आलोचना के प्रतिमान पुरुष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस संदर्भ में अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है–''इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग की क्या था?''[1]
यद्यपि इसके पूर्व दक्षिण भारत में 'भक्ति' का उदय हो चुका हो था तथा वह नामदेव आदि संतों के माध्यम से प्रचारित–प्रसारित हो रही थी, लेकिन उत्तर भारत अभी तक प्रायः इससे अनभिज्ञ ही था। इस अज्ञानता को दूर किया प्रसिद्ध वैष्णव भक्त तथा स्वामी राघवानंद जी के शिष्य रामानन्द जी ने जिन्होंने भक्ति के स्वरूप और क्षेत्र दोनों का व्यापक विस्तार करते हुए अपनी समदर्शी चिंतन दृष्टि से इसका एक सर्वसुलभ मार्ग प्रशस्त किया।
उत्तर भारत में विस्तृत प्रसरण के अंनतर आम–जनजीवन में नवचेतना का संचार करने वाली भक्ति भावना ने धीरे–धीरे एक आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण कर लिया। हिन्दी साहित्य में इस भक्ति आन्दोलन के उद्भावक व प्रणेता बने कबीरदास जी, जिन्होंने सिद्धों एवं नाथों से प्रेरित निर्गुण उपासना की पद्धति अपनाकर अपनी सधुक्कड़ी एवं पंचमेल खिचड़ी भाषा में भक्ति के साथ ही समाज सुधार को भी साधने का प्रयास किया। इस साहित्यिक घटना के तदन्तर भक्ति आन्दोलन से संबंधित भक्त कवियों की बाढ़ सी आ गयी, जिनमें युगीन समाज और साहित्य में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व रखने वाले सूफी परम्परा के कवि मलिक मुहम्मद जायसी तथा सगुण भक्ति धारा के प्रसिद्ध कृष्णोपासक भक्त कवि सूरदास का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। जहाँ जायसी ने अपनी रहस्यवादी प्रेम पद्धति द्वारा धार्मिक समरसता व पार्थिव एकात्मकता स्थापित करने का प्रयत्न किया वहीं सूरदास जी ने राधा–कृष्णा की लौकिक लीलाओं का गान करके भक्ति व प्रेम का आदर्श स्थापित किया। इस तरह से कबीर, जायसी एवं सूर द्वारा धर्म, प्रेम और भक्ति के संसर्ग से तत्कालीन समाज में व्याप्त अंधविश्वासों तथा आडम्बरों के परिहार का सराहनीय प्रयास किया गया। उपरोक्त तीनों महापुरुष वस्तुतः भक्त थे और प्रथमतः इनका उद्देश्य अपने आराध्य सगुण और निगुर्ण ब्रह्म की उपासना करके सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाना था। परन्तु भक्ति, प्रेम व मानवता के अनन्य उपासक इन भक्तों ने समाज की विद्रूपताओं को भी अनदेखा नहीं किया, उन्होंने उनसे संबंधित नियंताओं को खुली चुनौती दी। हाँ यह अवश्य था कि उनसे यह काम अनचाहे ही हुआ था, इसलिए उनके विचारों

में व्यापक लोक दृष्टि का अभाव दिखाई देता है।

भक्ति आन्दोलन उस समय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा जब साहित्य जगत में भक्त शिरोमणि महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का पदार्पण हुआ। ये सही मायने में हिन्दी के पहले शुद्ध कवि थे। इन्होंने रामभक्ति परम्परा का आश्रय लेते हुए पहली बार साहित्य और समाज के बीच संबंध स्थापित किया। गोस्वामी जी की व्यापक लोक दृष्टि ने भाँप लिया था कि केवल डाँट–फटकार, लीलागान अथवा अलौकिक प्रेम के निरूपण से न तो लोकमानस के ह्रदय में शुद्ध भक्ति का भाव जगाया जा सकता है और न ही इससे समाज का कल्याण किया जा सकता है। अब तक परम्परा से चली आ रही भक्ति भावना भी प्रायः एकांगी थी, उसमें ज्ञान, कर्म और प्रेम के समन्वय का अभाव था। इसलिए वह कहीं अश्लील तो कहीं उपदेश मात्र रह गई थी। साहित्य में गोस्वामी जी की महान उद्भावना यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम कविता को 'लोकमंगल' से जोड़ते हुए भगवान विष्णु के अवतारी रूप 'राम' के चरित्र को इस लौकिक जगत का अनुकरणीय आदर्श बताया तत्पश्चात प्रबन्धात्मक काव्य परम्परा का सहारा लेते हुए अपनी कालजयी कृति 'रामचरितमानस' की सर्जना से इस आदर्श को पुष्ट भी किया। उनको लोकतत्व, मानवीय संवेदना, उत्कृष्ट भक्ति व कल्याणकारी काव्य का गहन ज्ञान था जिससे उन्हें अपने ज्ञानकांड द्वारा धर्म की आलोचना, रहस्यवादी भक्ति द्वारा प्रेम की व्यंजना अथवा राधा–कृष्ण के सांसारिक प्रेम का महिमामंडन करते हुए श्रृंगार का यशोगान करने के बहाने अश्लीलता की हद तक जाने की आवश्यकता नहीं थी। समय, समाज और लोक जीवन की अद्भुत परख रखने वाले तुलसीदास युगीन समाज में व्याप्त विसंगतियों के प्रति सर्वाधिक सजग थे। 'कवितावली' में उन्होंने तत्कालीन समाज की दशा का वास्तविक चित्रांकन इस प्रकार से किया है–

> ''खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि
> वनिक को बनिक न, चाकर को चाकरी।
> जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस
> कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी।।''[2]

तुलसीदास जी ने जिस समाज को देखा और भोगा था उसमें मुगलकाल का यश और वैभव अपने चमर पर था। राजस्थान में संघर्षरत शक्तिशाली राजपूत राजाओं के क्रमशः समर्पण के पश्चात मुगल शासकों की साम्राज्यवादी नीति सफल हो गई थी, परन्तु दक्षिण भारत तक साम्राज्य विस्तार की लालसा उनमें अभी भी जीवित थी। इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु वे शासन–प्रशासन का अपना अधिकांश समय युद्धादि में बर्बाद करते थे। यही कारण था कि वे अपने समाज की आन्तरिक अव्यवस्थाओं से न तो परिचित ही थे और न ही कभी उन्हें सुधारने का कोई प्रयास किया। इससे सामाजिक असंतुलन में निरन्तर वृद्धि होती गयी और समाज स्वयं को असुरक्षित महसूस करने लगा। शासक और समाज का उच्च वर्ग विलासिता में डूबा हुआ था तथा मध्यम और निम्न वर्ग की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। कुप्रथाओं एवं अंधविश्वासों से सर्वत्र अकर्मण्यता व्याप्त थी। इस संबंध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है–''उस समय उन्होंने जिस समाज को देखा था, वह बहुत ऊँचे आदर्शों पर नहीं चल रहा था। उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में डूबे हुए थे और निचले स्तर के स्त्री–पुरुष दरिद्र, रोगी और अशिक्षित थे।''[3] इसी वर्णित समाज के लिए तुलसीदास को अपने भक्ति एवं काव्य को साधन तथा लोकमंगल को साध्य बनाना था।

हिन्दी के महान कवियों में अग्रगण्य गोस्वामी तुलसीदास का सम्पूर्ण काव्य ही 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' की भावना से प्रेरित हैं। उनकी दृष्टि में लोकमंगल का अनुष्ठान करना ही कविता का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए और उन्होंने स्वयं इसकी पूर्ति लोक और वेद के समन्वय से की है। यही कारण है कि उनके काव्य ग्रन्थों में एक ओर तो वैदिक संस्कृति धर्म, दर्शन आदि का निरूपण हुआ है तो वहीं दूसरी ओर जगह–जगह पर उनमें लोक तत्वों का समावेश भी दृष्टिगत होता है। लोक के लिए रामकथा का गान करने वाले कवि के लिए ऐसा करना स्वाभाविक ही था। राम कथा के विषय का संबंध वेद से तथा उसके प्रणयन का उद्देश्य लोक से जुड़ा है इसलिए भी यह मेल–मिलाप आवश्यक था। तुलसी में समन्वय की विलक्षण प्रतिभा विद्यमान थी। केवल वेद और लोक का ही नहीं, धर्म और अधर्म, नीति और अनीति, शत्रुता और मित्रता आदि के समन्वय द्वारा उन्होंने समाज में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इसी से डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'लोकनायक' की पदवी से विभूषित करते हुए लिखा है–''भारतवर्ष का लोकनायक वहीं हो सकता हैं जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ साधनाएँ, जातियाँ, आचार, विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं नाना स्तरों के समाज में रह चुके थे। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।''[4] तुलसी ने अपने चरितनायक 'राम' को एक आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत कर लोक शिक्षा का विधान किया तथा लोक जीवन को सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकार का अभिन्न अंग मानकर प्रायः उसके सभी पक्षों को काव्य में स्थान दिया। इसी तरह से वे व्यक्तिगत साधना और लोक धर्म को भी समान महत्व देते हैं। एक ओर तो वे व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विराग पूर्ण भक्ति का उपदेश देते हैं तो दूसरी ओर लोक पक्ष में आकर सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं। अपने उद्देश्यों की सम्यक् पूर्ति हेतु उन्होंने 'राम' के समान ही 'रामचरितमानस' को भी साधन के रूप में प्रयोग किया, जिसने उनके मार्ग को और अधिक सुगम बना दिया। वैसे लोकमंगल के जिस व्यापक उद्देश्य को लेकर वे चल रहे थे, उसकी प्राप्ति अन्यथा संभव भी नहीं थी।

भारतीय जनमानस में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं जनता के कवि तुलसीदास अपने काव्य में जिस 'लोकमंगल' और 'समाज आदर्श' की रट लगाते दिखते हैं वह उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना का ही परिणाम है और इसका सार तत्व उन्हें वेद, पुराण आदि धर्म–ग्रन्थों से प्राप्त हुआ था। आचार्य शुक्ल के शब्दों में–''गोस्वामी जी का समाज आदर्श वही है जिसका निरुपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है; अर्थात वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।''[5] तुलसी कालीन समाज के प्रत्येक क्षेत्र में न केवल विषमता, द्वैष और वैमनस्य व्याप्त था बल्कि धर्म, समाज और संस्कृति आदि में परस्पर टकराव की स्थिति बनी हुई थी। समाज में शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, कर्तव्य परायण महापुरुषों, स्वामी भक्त सेवकों तथा प्रजा का पुत्रवत पालन करने वाले शासकों के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव समाप्त हो गया था। ऐसे वातावरण में किसी ऐसे युग पुरुष की आवश्यकता थी जो उपरोक्त विसंगतियों की तरफ शासक और शासित दोनों का ध्यानाकर्षण कर समाज उद्धार का मार्ग प्रस्तावक बनने की योग्यता रखता हो। इस संदर्भ में तुलसी से अधिक उपयुक्त विकल्प कोई दूसरा नहीं हो सकता था। समाज के प्रति अपने दायित्वों का समुचित निवर्हन करने के लिए इन्होंने दो प्रकार की रीति–नीति का अनुप्रयोग किया, जिसके मातहत उन्होंने सर्वप्रथम तत्कालीन समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विद्रूपताओं के यथार्थ चित्रण द्वारा आर्त्त (अस्वस्थ) लोकमानस की सुप्त मानवीय संवेदना को जाग्रत करके उसे उसकी खोई हुई अस्मिता का बोध कराया तत्पश्चात 'रामराज्य की परिकल्पना' द्वारा राजा एवं प्रजा दोनों को कर्तव्यनिष्ठता की ओर उन्मुख किया।

तुलसीकाव्य में 'रामयुगीन' और 'तुलसीयुगीन' दोनों समाजों का उल्लेख मिलता है। 'मानस' और 'कवितावली' का रामराज्य वर्णन

प्रसंग तथा रामकथा के आवश्यक अंग के रूप में जिस समाज का वर्णन किया गया है वह रामकालीन समाज के अंतर्गत आता है जिसमें सामाजिक संबंधों तथा राजनीतिक व्यवस्था का आदर्श रूप दर्शाया गया है। राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, दशरथ, हनुमान आदि पात्रों के माध्यम से उन्होंने आदर्श संबंधों की परिकल्पना को साकार किया है। राम एक आदर्श पुत्र हैं जो पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करना अपना परम कर्तव्य मानते हैं तथा सर्वगुण सम्पन्न, सर्वशक्तिमान एवं शीलवान नायक के रूप में प्रतिष्ठित राम का आदर्श भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का संरक्षक है। शक्ति, शील और सौन्दर्य के भण्डार राम जन–जन के प्रिय पात्र तथा धर्म व नैतिकता के मानदंड हैं। उनमें त्याग, विराग, लोकहित और मानवता का चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है। लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं तो सीता प्रतिमान पत्नी। अपने मित्र के दुःख को अपना दुःख मानकर उसके निवारण का प्रयास करना ही मित्र व मित्रता का आदर्श है। हनुमान नीतिज्ञ, व्यवहार कुशल और सच्चे सेवक की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। वे राम के परम भक्त हैं जो निष्काम भाव से प्रभु की आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं। भरत ने अपनी स्वार्थिनी माता को त्यागकर राम को लोकधर्म का प्रतिनिधि मानते हुए जिस प्रकार का आचरण किया वह युगों–युगों तक भातृ–प्रेम का आदर्श उपस्थित करता रहेगा।

इसी प्रसंग में तुलसीदास जी ने मुस्लिम शासन में व्याप्त राजनीतिक विशृंखलता, सामाजिक दुर्व्यवस्था एवं अधार्मिकता को समाप्त कर लोक कल्याण हेतु रामराज्य का आदर्श सामने रखा। एक आदर्श समाज का स्वरूप कैसा होना चाहिए और उस समाज में शासक व जनता के क्या कर्तव्य होने चाहिए, इसके लक्षण–उदाहरण एवं सांकेतिक चित्र से रामचरितमानस भरा पड़ा है। तुलसी की दृष्टि में काल्पनिक रामराज्य के प्रतिमान का एक उदाहरण द्रष्ट्रव्य है–

> ''दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं कहुहिं व्यापा।
> सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती।''[6]

राम के राज्य में सभी लोग परस्पर प्रेम से रहते हुए लोकशास्त्र एवं मर्यादा के अनुरूप स्वधर्म पालन करते हैं। किसी को किसी प्रकार का दुःख नहीं, कोई दरिद्र अथवा विद्याहीन नहीं, सभी निरोगी तथा दम्भ रहित होकर अपने कर्तव्यपालन में रत हैं–

> ''नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
> सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरू नारि चतुर सब गुनी।।''[7]

तुलसी ने व्यक्ति के लिए आवश्यक मानवीय गुणों का भी उल्लेख किया है। दया, क्षमा, परोपकार, करुणा, प्रेम सहिष्णुता आदि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर सकता है। ईर्ष्या, द्वेष, कपट, दम्भ, बैर–भाव से रहित मानव जिस समाज में रहता है वह अवश्य ही उन्नति करता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने कर्तव्यों का यथेष्ट पालन करता हुआ सदाचार से जीवन–यापन करें तो निश्चय ही लोकमंगल का विधान होता है। धर्मपालन पर विशेष बल देने वाले तुलसीदास ने व्यक्तिगत धर्म, नारी धर्म, पति धर्म, मानव धर्म आदि का उल्लेख भी रामचरितमनास के विविध प्रसंगों में किया है। मानस में की गई राम राज्य की परिकल्पना एक कवि की कल्पना सृष्टि का वह साक्ष्य है जहाँ मानवीय मूल्यों एवं हितों का सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट स्वरुप अनुमानित किया गया है। इससे बच्चन सिंह का यह कथन कि–''इसमें साहित्य समाज और जीवन को देशकाल के परिप्रेक्ष्य में नये सिरे से निर्मित किया गया है''[8] निर्विवादित सत्य है।

तुलसीकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का यथावत चित्रण मानस और कवितावली के उत्तरकाण्ड में कलिकाल वर्णन प्रसंग के अंतर्गत देखने को मिलता है, जहाँ उन्होंने सप्रमाण स्पष्ट किया है कि उनके लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा का वास्तविक मंतव्य क्या था और उन्हें इसकी काल्पनिकता की आवश्यकता क्यों पड़ी? उस समय समाज में धर्म प्रायः लुप्तप्राय हो गया था एवं अधर्म अपने चर्मोत्कर्ष पर था। ब्राह्मण वेद बेंच रहे थे तथा राजा अपनी ही प्रजा के शोषण में संलग्न था, वेदशास्त्रों के सिद्धांतों और मर्यादाओं की धज्जियां उड़ रही थी–''द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।''[9] प्रकृति भी मानव हित के प्रतिकूल हो गई थी। बार–बार आने वाली बाढ़, दुर्भिक्ष और महामारी आदि प्राकृतिक आपदाओं से जन–धन की व्यापक क्षति होती थी, अन्न के अभाव में भूख से तड़पते हुए लोगों का प्राणांत तक हो जाता था–''कालि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।।''[10] कलियुग अर्थात तुलसी के युग में अशुभ वेश–भूषा धारण करने वाले, भक्ष–अभक्ष खाने वाले योगी तथा व्यर्थ का उपदेश देने वाले पण्डित समझे जाते थे। गुरु और शिष्य का संबंध बहरे और अंधे जैसा हो गया था, एक सुनता नहीं और दूसरे को सूझता नहीं। अहंकार से ग्रसित लोग स्वयं को ही सर्वज्ञ समझने लगे थे। समाज में बहन–बेटी की मर्यादा को कोई नहीं मान रहा था–''कलिकाल विहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोई अनुजा–तनुजा।।''[11] मनुष्यों में संतोष, शीलता और शालीनता आदि गुणों का स्थान ईर्ष्या, अहंकार, कठोर वाणी और लालच जैसे दुर्गुणों ने ले लिया था। तुलसीदास ने समाज और उसके कर्णधारों को इन्हीं परिस्थितियों से अवगत कराते हुए जनमानस में आत्मसम्मान, भक्ति, प्रेम, मानवता तथा इन सबका सार 'लोकमंगल' की भावना की उद्भावना करने का प्रयत्न किया, इसीलिए उन्होंने अपनी प्रतिनिधि रचना मानस को लोक का काव्य बनाने के उद्देश्य से उसमें लोक विश्वासों को इस क्रम में सजोया है कि वे सभी पौराणिक कथा का अंग होते हुए भी लोक तत्व के सर्वाधिक नज़दीक प्रतीत होते हैं।

संदर्भ–सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या–39
2. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड–कवितावली, (सं0) रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन पृष्ठ संख्या–225
3. हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या–125
4. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या–101
5. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या–35
6. श्रीरामचरितमानस, सप्तम सोपान, उत्तरकांड (सं0) योगेन्द्र प्रताप सिंह, पद संख्या–21, पृष्ठ संख्या–77
7. वही, पृष्ठ संख्या–77–78
8. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, पृष्ठ संख्या–142
9. श्रीरामचरितमानस, सप्तम सोपान, उत्तरकांड, (सं0) योगेन्द्र प्रताप सिंह, पद संख्या–21, पृष्ठ संख्या–77
10. वही, पद संख्या–101, पृष्ठ संख्या–159
11. वही, पद संख्या–102, पृष्ठ संख्या–161